स्वतंत्र भारत की वैचारिक पराधीनता

डॉ. शंकर शरण

शोध संचयन

Vol-1, Year-1

१५ जनवरी २०१०

www.shodh.net

स्वतंत्र भारत की वैचारिक पराधीनता

– डॉ० शंकर शरण

जब सैन्य दृष्टि से विषम स्थितियों में दो सभ्यतायें मिलती हैं, जैसे हिन्दू संस्कृति क्रमशः इस्लाम और यूरोपीय संस्कृति से मिली तो पराजित होने वाले पक्ष के लिये अपनी अस्मिता की समस्या उठ खड़ी होती है। जब ढाई सौ वर्ष पहले भारत ने समझा कि ब्रिटिश सैन्य क्षमता और कूटनीति ने अंततः उसे पराजित किया है तो उसे हीन भावना की अनुभूति हुई। उससे उबरने के लिये विभिन्न लोगों ने विभिन्न उपाय किये। कुछ अपने ही में सिमट कर उदासीन हो गये, तो कुछ अपनी विरासत को नकार कर विजेताओं की पूरी तरह नकल में लग गये। इन्होंने अपने को खोकर अपनी प्रतिष्ठा बनाने का प्रयास किया।

ब्रिटिश अधीनता स्थापित हो जाने के बाद भारतीय समाज मे जो बौद्धिक उद्वेलन हुआ, उस में आत्म–विलगाव एक प्रमुख तत्व बन कर उभरा। इस ने जन–जीवन के प्रत्येक अंग, विशेष कर बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया। इसका असर इतना गहरा हुआ कि ब्रिटिश शासन के विरूद्ध राजनैतिक संघर्ष में भी जो भारतीय उतरे, उनका एक अंश सांस्कृतिक, बौद्धिक क्षेत्र में ब्रिटिशों को ही श्रेष्ठ मान उन का अनुसरण करता था। किंतु समय के साथ एक दूसरी धारा भी प्रकट हुई जिस ने अपनी जड़ों के आधार पर देश को पुनजीर्वित करने और आत्मसम्मान लौटाने का प्रयत्न आरंभ किया। उन्नीसवीं शदी में भारतीय बौद्धिक पटल पर यह दोनों धारायें प्रत्यक्ष हुई।

इनमें एक आत्म–विलग होकर यूरोप के अंधानुकरण में लगी थी, दूसरी आत्मान्वेषण और रचनात्मक कार्यो में। दोनों का ही उत्स हाल की ऐतिहासिक घटनाओं में था, यद्यपि दोनों के शक्ति स्रोत भिन्न–भिन्न थे। तदनुरूप दोनों की संपूर्ण सामाजिक–वैचारिक संकल्पनायें भी भिन्न थीं। एक ने समाज को मुख्यतः आर्थिक दृष्टि से देखा, दूसरे ने सांस्कृतिक दृष्टि से। एक ने समाज को बाजार के रूप में देखा जहाँ लोग उत्पादन–उपभोग में लगे रहते हैं। (इस बिंदु पर पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही दृष्टियाँ मूलतः समान रही हैं।) तो दूसरी ने इसे मानव–समुदाय और घर के रूप में देखा। एक के लिये छल–तिकड़म समेत किसी से भी भौतिक–आर्थिक सफलता पाना केंद्रीय तत्व था, दूसरी के लिये सेवा, आत्म–सम्मान, उत्थान के साथ सार्वभौमिक, चराचर सुख–शांति का आदर्श। इन दो मूलतः भिन्न मानसिक, बौद्धिक धाराओं के निहितार्थ जीवन के प्रत्येक पहलू के लिये भिन्न होते हैं। जिसे चीन्हा–परखा जा सकता है।

उदाहरण के लिये, जब गाँधी ने भारत में अपना राजनैतिक कार्य आरंभ करने से पहले देश–भ्रमण कर गाँवों और साधारण जन–गण को देख–समझा, तो उन्हें उन में भद्रता, कौशल, सामर्थ्य और आत्मसम्मान दिखा था। श्री अरविंद को भी जेल में अपने साथी, गरीब और निरक्षर बंदियों में स्वयं नारायण के दर्शन हुये थे। जबकि जवाहरलाल नेहरू के विचार से, भला कोई कैसे यह कबूल कर सकता है कि गाँव के लोगों में भी कोई सद्‌गुण और सामर्थ्य है, वे तो बड़े मूर्ख है।''[2] यह कहते नेहरू एक व्यक्ति नहीं थे, वह एक सम्पूर्ण विचार–पद्धति को व्यक्त कर रहे थे। अतएव एक ही विषय, भारतीय ग्राम, पर दोनों धाराओं की समझ कितनी भिन्न थी, इसका यह एक उदाहरण है। यही भिन्नता धर्म, समाज, राजनीति, अर्थनीति, सुख–समृद्धि, विज्ञान, दर्शन, शिक्षा आदि भी सभी विषयों में रही है। तदनुरूप उनसे निःसृत नीतियाँ और व्यवहारिक परिणामों का समुचित मूल्यांकन एक ऐसा अनिवार्य कार्य है, जो अब तक नहीं किया गया है।

भारतीय मनीषा का अवमूल्यन

ध्यातव्य है कि यूरोप से प्रभावित धारा ने संपूर्ण भारत को कभी प्रभावित नहीं किया। सौ वर्ष पहले उठी स्वदेशी धारा, अर्थात् भारतीय चिंतन–परंपरा के आधुनिक मनीषियों ने ही पहले पहल संपूर्ण भारत को जगाने, स्फूर्ति और आत्मविश्वास भरने में सफलता पाई थी। उनमें बंकिमचन्द्र, बाल गंगाधर तिलक, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद आदि के नाम अग्रगण्य हैं। महादेव गोविंद रानाडे, महात्मागाँधी, लाला लाजपत राय, भीमराव, अंबेदकर जैसे और भी नाम उसी श्रेणी के है। आप सब उस चिंतन व कर्म परम्परा की संतान हैं जिसे सम्पूर्ण विश्व उपनिषद, वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, शास्त्रों, स्मृतियों और श्रुतियों की परंपरा या भारतीय परंपरा मानता है।

अतएव यदि देश–दुनिया पर बंकिम, दयानंद, विवेकानंद, श्री अरविंद और गाँधी के विचारों, अनुभवों, निर्देशों का अध्ययन करें और उस के बाद स्वतंत्र भारत के संविधान, शिक्षा–नीति, अर्थनीति आदि का अवलोकन करें तो स्पष्ट होगा कि स्वतंत्र भारत की राज्यसत्ता भारतीय चिंतन परंपरा से कटी रही है। चाहे कभी बंकिम, तिलक, श्री अरविंद व गाँधी के विचारों ने लाखों प्रबुद्ध, कर्मठ लोगों को प्रेरित, उद्वेलित किया हो, किन्तु स्वतंत्र भारत की दिशा, लक्ष्य व नीति निर्धारित करने में उन्हें तिलांजलि दे दी गई। बंकिम के वंदे–मातरम् ने ही आज से सौ वर्ष पहले पहली बार सम्पूर्ण देश का एक साथ राजनीतिक रूप से लगाया, उद्वेलित किया था, वस्तुतः वह एक जादुई मंत्र ही बन कर आया था।, जिसे गाकर कभी पूरा देश गर्व एकता, आत्मभिमान और सक्रियता से भर उठता था, आज उसे देश की संसद में नहीं गाया जा सकता बल्कि नवीनतम सूचना के अनुसार अब संसद से बाहर, सामान्य भारतीय धरती पर भी उसे गाना कतिपय सत्ताधारियों, संगठनों को नागवार लगता है, और लोगों को निर्देश दिये जाते हैं कि वह उसे न गायें। भारतवासियों का एक अंश न केवल उसे स्वयं नहीं गाता, बल्कि दूसरों द्वारा गाया जाना भी उसे कष्ट देता है, यह स्थित एकायक नहीं बनी। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही वंदेमातरम को सेक्यूलरिज्म नामक एक झूठे देवता के समक्ष धीरे–धीरे, किस्तों में बलि चढ़ा दिया गया। ठीक उन्ही कारणों से आज विवेकानन्द, श्री अरविंद या गाँधी के सुचिंतित विचारों और मूल्यांकन का अनुकरण तो क्या उन की चर्चा तक करना आज किसी को राजकीस, आकादमिक या मीडिया जगत के अनेक संस्थानों के लिये अछूत बना सकता है।

हम उदाहरण ले सकते हैं। गाँधी जी ने कहा था, "जीवन के अलावा और कोई धन नहीं होता वही देश सबसे धनी है, जहाँ सबसे अधिक संख्या में भले और प्रसन्न इंसान रहते हों। यह मनुष्य ही सबसे धनी है, जो अपने कार्य को उच्चतम दक्षता और दिशा देने के बाद अधिक से अधिक लोगों को तन–मन–धन से अधिकाधिक सहयोग और सदभाव दे पाता है।"[5]

अथवा, उन्हीं के शब्दों में,

"………. अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, राग, जुल्म वगैरह बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाये लोगों ने प्रजा को ठगने में, उसे परेशान करने में कुछ भी नहीं उठा रखा है। अब अगर हम अंग्रेजी शिक्षा पाये लोग उसके लिये कुछ करते हैं, तो उसका हम पर जो कर्ज चढ़ा हुआ है उस का कुछ हिस्सा ही हम अदा करते हैं।"[6]

इसी तरह, स्वामी विवेकानंद ने भी कहा था कि विदेशी भाषा में दूसरों के विचारों को रट लेना, अपने मस्तिष्क में उन्हें ठूँस लेना, कुछ पदवियाँ और मुंशीगिरी या डिप्टी–कलक्टरी प्राप्त कर लेना– यह सब शिक्षा नहीं है। उनके विचार में जो शिक्षा बच्चों में चारित्र–शक्ति का विकास नहीं करती, करुणा–दया का भाव और सिंह का साहस पैदा नहीं करती, वह तो कोई शिक्षा नहीं। वह धर्म को शिक्षा को मेरूदंड कहते थे। वह श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, श्री हनुमान जैसे महापुरुषों की पूजा करने पर बल देते थे। हर प्रकार की दुर्बलता को दूर भगाना वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। इस संदर्भ में उन्होंने उपनिषदों को 'शक्ति की विशाल खान' कहा था जिसके द्वारा समस्त संसार तेजस्वी हो सकता है। मुक्ति अथवा स्वधीनता – दैहिक स्वधीनता, मानसिक स्वधीनता, आध्यात्मिक स्वधीनता – यही उपनिषदों का मूल मंत्र है।[7]

उस ऐतिहासिक स्वदेशी आंदोलन के नायक श्री अरविंद एक प्रखर चिंतक भी थे। उन्होंने यूरोपीय और भारतीय शास्त्रों तथा जन–जीवन का स्वंय मूल्यांकन किया था। राष्ट्रीय शिक्षा पर लिखे उनके निंबधो ने पूरे देश को उद्वेलित किया था, जिनमें प्रस्तुत विश्लेषण आज भी उतना ही सामयिक हैं। श्री अरविंद का निष्कर्ष था कि भारत में फैला कुख्यात भ्रष्टाचार अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के अनुसार मानसिक शिक्षा देने का ही सीधा परिणाम था। उन के अनुसार दुर्गुणों से मुक्त शिक्षा देने का एक मात्र उपाय भारतीय आर्य परंपरा की शिक्षा, राज–योग के अनुरूप शिक्षा है। उन्होंने यह भी कहा था कि हमारे विद्यालयों में व्याप्त हिंदू भाव ही राष्ट्रीयता का वह सारतत्व होना चाहिये जो हमारे विद्यालयों को अन्य विद्यालयों से विशेष बनाये। यह बातें कुछ लोगों को अटपटी लग सकती है। किंतु उन्हें मूल रूप में पढ़कर उन की मूल्यवत्ता किसी को भी असंदिग्ध प्रतीत होगी। जिस विचार ने आज से सौ वर्ष पूर्व पूरे देश को झकझोरा था, राष्ट्रीयता के बारे में श्री अरविंद के प्रसिद्ध शब्दों का

पुनः-पुनः स्मरण और मनन करना आवश्यक है,

... मैं यह कहता हूँ कि सनातन धर्म ही हमारे लिये राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू जाति सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुई है, उसी को लेकर चलती है और उसी को लेकर पनपती है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस जाति की भी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश संभव होता तो सनातन धर्म के साथ-साथ इस जाति का विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता। यही वह संदेश है जो मुझे आपको सुनाना है।[8]

इन कुछ उदाहरणों पश्चात, अब आप जाँच करना चाहें तो शिक्षा, धर्म, अर्थव्यवस्था, राजनीति, राष्ट्रवाद, विदेश नीति आदि किसी भी विषय में भारत के इन समकालीन मनीषियों का नाम लिये बिना उन के विचारों का सकारात्मक उल्लेख किसी गोष्ठी या लेख में कर के देख लें तुरंत ही सांप्रदायिक, पोंगापंथी, ब्राह्मणवादी, अंधराष्ट्रवादी, अल्प-संख्यक विरोधी जैसी बौद्धिक-राजनीतिक गालियों से आपका सत्कार हो जाएगा। बिना क्षण भर की देर ऐसे सभी विचारों को न केवल खारिज किया जाएगा, बल्कि विचार रखने वाले को भी संदेह से देखा जाएगा कि कहीं वह फलाँ पार्टी या संगठन का एजेंट तो नहीं है अर्थात् प्रातः स्मरणीय मनीषियों अथवा भारतीय मनीषा के कालजयी ग्रंथों की बात दुहराना भी आज भारत में स्वयं को लांछित किये जाने का आमंत्रण बन गया है।

क्या किसी अन्य देश में ऐसा दृश्य देखा जा सकता है कि उस देश की विश्व-प्रसिद्ध मनीषा और महापुरुषों के विकास का आग्रह करने पर उस के नागरिक को अपने ही देश में लांछन व दुर-दुराहट का सामना करना पड़े? तब यहाँ ऐसा कैसे हुआ? क्यों गाँधी जी के हिन्द स्वराज, अथवा श्री अरविंद के राष्ट्रीय शिक्षा की कोई भी अनुशंसा स्वतंत्र भारत के राजकीय, बौद्धिक दर्शन में स्थान न पा सकी; और उसे तरह-तरह के विदेशी, अ-परीक्षित, अस्पष्ट, अनैतिक विचारों को हमारा मार्गदर्शक सिद्धांत घोषित कर दिया गया?

क्या यह सच नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति तक कभी सेक्यूलरिज्म या सोशलिज्म हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा अथवा आदर्श नहीं था? तब यह कैसे हुआ कि ये दोनों ही मतवाद आज भारतीय संविधान के प्रथम पृष्ठ पर आसन जमाए हुए है, और भारतीय चिंतन परंपरा के कालजयी विचार उपेक्षित पड़े हैं? यह सभी विचार जो मानव जाति की अनमोल धरोहर है, जो भारत के महान ग्रंथों व लोक परंपरा में अभी भी बहुत कुछ सुरक्षित है, उसे रिलीजियस श्रेणी का मान सेक्यूलरिज्म के नाम पर किनारे कर दिया गया। जब कि वह दर्शन, आरोग्य, राजनीति, नैतिकता, प्रकृति ज्ञान और श्रेष्ठ, सुसंस्कृत आर्थिक, सामाजिक जीवन जीने के लिये अतुलित ज्ञान से भरे हुए हैं।

हम विदेशी, नामी पश्चिमी विद्वानों के विचारों को अत्यधिक मूल्यवान समझते हैं, इसलिए - उदाहरणार्थ उसी साक्ष्य से देखें कि जिसे स्वतंत्र भारत के कर्णधारों ने हमारी शिक्षा-दीक्षा या जीवन के लिए महत्त्वहीन माना, उन की मूल्यवत्ता क्या है ? महान समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने म्यूनिख विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध व्याख्यान 'पॉलिटिक्स एेज ए वोकेशन' (1919), जो आधुनिक राजनीति की सैद्धान्तिक-व्यावहारिक समझ के लिए एक अत्यंत मूल्यवान कृति है उसमें राजनीति एवं नैतिकता के अतः संबंध पर विचार करते हुए जिन पर चार कृतियों का उल्लेख किया है, उन में से तीन भारतीय मनीषा से संबंधित है। उपनिषद, भगवद्गीता और कौटिल्य का अर्थशास्त्र नैतिक मूल्यों के दृष्टिकोण से राजनीतिक आधार, आचार-व-कर्म की ऐसी अविच्छिन्न प्रस्तुति मैक्स वेबर को हिन्दू मनीषा छोड़ कर कहीं और नहीं मिली। इस संदर्भ में हिन्दू शब्द मैक्स वेबर ने ही प्रयोग किया है। अब आज भारत में कोई पाठ्य-पुस्तक में यही बात लिख दे, तो उसे राजनीति शास्त्र का भगवाकरण कह कर लांछित किया जाएगा और हमारा बौद्धिक वर्ग कोई आपत्ति भी नहीं करेगा। यह आत्महीन स्थिति कैसे बनी?

क्योंकि प्राचीन भारतीय मनीषा को मजहबी-सी चीज कह कर उसे शिक्षा, शोध, बौद्धिक विचार-विमर्श से परे कर दिया गया है। निर्मल वर्मा ने कितना ठीक कहा था कि किसी सभ्यता के पास शाश्वत मनीषा के रूप में इतने अधिक हीरे-माणिक नहीं है, जिन्हें हमने कंकड़ समझ कर फेंक दिया है। (और कूड़े-कचरे को सिर पर रख लिया है।) यही स्थिति आज भी, सब सोशलिज्म की विचारधारा दिवालिया घोषित हो चुकी, और

अपरिभाषित सेक्यूलरिज्म हमारे गले की हड्डी सिद्ध हो चुकी है तब भी हम अपनी मूल्यवान चिंतन-परंपरा के बजाए चालू विदेशी आग्रहों-दुराग्रहों, नारों, अवधारणाओं के दास बने तदनुरूप अपने विचार बदलते, संशोधित करते रहते हैं। चिंतन-विचार-शिक्षा के क्षेत्र में यह पराधीनता क्यों बनी हुई है?

यह एक वृहद विषय है, जिसे एकाध गोष्ठी या लेख में समेटना असंभव है। फिर देश का बौद्धिक वातावरण इतना दुराग्रही है कि सर्वप्रथम तो इसे विमर्श के लिए भी रखवा पाना टेढ़ी खीर होगी, कि स्वतंत्र भारत में हम विदेशी, हानिकारक विचारों के अनुयायी बने हुए हैं। बौद्धिकों का अंधविश्वास विकट होता है। किंतु भारत में पिछले पाँच-छः दशकों से समाजवाद, प्रगतिशीलता, साम्राज्यवाद-विरोध, सेक्यूलरिज्म, वैज्ञानिक दृष्टि आदि संज्ञा-विशेषणों से जुड़ी वैचारिकता किसी भी परिभाषा से अंधविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं रही। ध्यान दें, कि उन नारों, मुहावरों, में से अधिकांश का कोई सुसंगत अर्थ नहीं है। इसीलिए जो अर्थ सब समय बताए जाते हैं, वही हवा देख कर बाद में परिवर्तित कर दिए जाते हैं, ताकि किसी राजनीतिक मिथ्याचार या अंधविश्वास का बचाव किया जा सके।

समाजवाद को ही लें, जो अभी भी हमारे संविधान का मार्ग-दर्शक सिद्धांत बना हुआ है। जिसे कभी बड़े दर्प से 'वैज्ञानिक', अनुभव-प्रमाणित आदि कहा जाता था, उसी का सोवियत विघटन के बाद केवल भावना के रूप में बचाव होने लगा। अब समाजवाद की वैसी कोई परिभाषा सुनने को नहीं मिलती जो 1930 से 1985 तक ठसक और अहंकार से थोपी जाती थी। कि उस ने सभी विचारों पर अपनी जीत स्थापित कर दी, और उस के अतिरिक्त हमारे भविष्य का कोई श्रेष्ठतर मार्ग नहीं। क्या यह अंधविश्वास न था जिसे अब विवेक-बुद्धि रखने वाला पुराने कम्यूनिस्ट भी याद नहीं करते। (यह भी हमारी वैचारिक पराधीनता का संकेत है कि कभी जबर्दस्ती और धोखे से भारतीय संविधान में घुसाए गए इस विचार को अभी भी निकाला नहीं गया है।)

यह तथ्य है कि ब्रिटिश शासन से मुक्त होने पर भारत का पथ वह न हुआ जिसकी हमारे महापुरुषों और सामान्य लोगों ने कल्पना की थी। नई सत्ता देश को उसी राज्य-नियंत्रित, उपभोगवादी, पश्चिमी लोकतांत्रिक-समाजवादी ढर्रे पर ले चली, जिसे यूरोपियनों ने बनाया था। **यह कितनी बड़ी विडंबना हुई कि स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने में अमेरिका, इंग्लैंड, कनाडा, रूस आदि दुनिया भर के (सभ्यता की दृष्टि से लगभग नवजात, अल्प-अनुभव वाले) संविधानों की नकल की गई, किंतु स्वयं भारतीय सभ्यता की सदियों तक चली सफल धर्म-नीति, शासन-व्यवस्था, शिक्षा, कृषि उद्योग आदि संबंधी विस्तृत अनुभवों को इस में कोई स्थान नही मिला। न गाँधीजी की किसी परिकल्पना को, जो उन्होंने स्पष्ट रूप से बना कर दिये थे।** इस के बदले जब भारत का तथाकथित नवनिर्माण आरंभ हआ तो ईसाइयत - प्रभावित लोकतंत्र के दर्शन को यथावत स्वीकार कर, राजकीय क्षेत्र की अर्थव्यवस्था को खूब बढ़ा कर, सोवियत साम्यवाद के मॉडल पर तरह-तरह के केंद्रीकृत आयोग, समितियाँ, संगठन आदि बना-बना कर एक तरह की संकर व्यवस्था बनाई गई, जिस के परिणामस्वरूप आज हमारे समाज में दोनों के दुर्गुण - अमेरिकी तंत्र का व्यक्तिवाद, उपभोगवाद तथा सोवियत तंत्र की कुव्यवस्था-भ्रष्टाचार-मनमानी आदि खूब फल-फूल रहे हैं।

स्वतंत्र भारत की विचारधारा के रूप में नेहरूवाद

स्वतंत्रता के पश्चात भारत की नीति सोवियत साम्यवाद से गहरे प्रभावित रही, यदि इसमें संदेह हो तो नेहरूजी के संपूर्ण लेखन, भाषण, नीति-निर्णय, संसद के बहस-मुबाहसों का व्यवस्थित अध्ययन करें। तब यह स्पष्ट होगा कि कम्युनिस्ट देशों के अतिरिक्त भारत ही ऐसा देश था जो संवैधानिक रूप से पश्चिमी लोकतांत्रिक व्यवस्था अपना कर भी मुख्यत: कम्युनिस्ट अंधविश्वासों, तौर-तरीकों से परिचालित होता रहा। चाहे वह अर्थनीति हो, कृषि नीति, शिक्षा नीति, विदेश नीति या प्रचार-शैली - हमारे अधिकांश नीति-दस्तावेजों, विचार-विमर्श और तौर-तरीके उस अंधविश्वास के जीवंत प्रमाण हैं जिसने भारतीय चिंतन-परंपरा, अनुभव एवं समकालीन मनीषियों के विचारों को दो कौड़ी का समझ कर त्याग दिया था। उन के स्थान पर स्तालिन, माओ, जैसे कम्युनिस्ट नेताओं की मनमानी लफ्फाजियाँ, हेराल्ड लास्की, रजनी पामदत्त, मॉरिस डॉब, जैसे यूरोपीय लेखकों-टिप्पणीकारों तथा सोवियत चीनी प्रचार के झूठे दावों को ध्रुव-सत्य मानकर उसी दुराशा में भारत के नवनिर्माण की योजना बनाई गई। उदाहरणार्थ हमारे कुछ महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों, जैसे पंचशील समझौता (1954),

औद्योगिक नीति (1956), शिक्षा नीति (1966) उन के व्यवहारिक परिणामों का ठोस तथ्यों के आलोक में पुनरावलोकन करें। यह सोवियत संविधान और सोवियत वास्तविकता, अथवा चीनी संविधान और चीनी वास्तविकता के बीच की विराट खाई जैसी ही दयनीय दिखेगी।

इस सत्य को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है कि स्वतंत्र भारत की दुर्गति में नेहरूवादी अंधविश्वासों का कितना बड़ा हाथ था। पर ध्यान दें, जिस तरह चीन की आर्थिक प्रगति कम्युनिस्ट जड़सूत्रों को छोड़ आधुनिकीकरण(1978) अपनाने के बाद से ही आरंभ हो सकी ,उसीतरह भारत का आर्थिक विकास भी उदारीकरण (1991) बाद ही हुआ। उदारीकण का सीधा अर्थ मुख्यत: उस स्टालिनी अंधविश्वास से छुटकारा पाने का प्रयास ही है जिसमें राजकीय क्षेत्र की अर्थव्यवस्था को सर्वोच्च मानना पहला सूत्र था। चीन, रूस, पूर्वी यूरोप आदि सभी कम्प्यूनिस्ट देशों ने बड़ी महँगी कीमत देकर समझा कि अर्थ-व्यवस्था का कम्युनिस्ट सिद्धांत व्यवहार में अतिशय खर्चीला, निकम्मापन बढ़ाने वाला, तथा भ्रष्टाचारोन्मुख - अर्थात् अर्थव्यवस्था को अंतत: बैठा देने वाला होता है। सभी कम्युनिस्ट देशों द्वारा उस सिद्धांत को विदा देने के पीछे यही समान अनुभव था। हमने भी चार दशक अपना 'नवनिर्माण' उसी सिद्धांत से प्रभावित रखा, इस की कोई समीक्षा नहीं की गई है।

भारत में यह कम्युनिस्ट अंधविश्वास नेहरूवाद के रूप में प्रचलित हुआ, जिससे हम अभी भी मुक्त नही हुए हैं। (इसलिए नेहरू और नेहरूवाद पर विस्तार से चर्चा अपेक्षित है)। नेहरूवाद को जिस तरह पिछले कुछ वर्ष में नए तरह से पुनर्स्थापित करने के प्रयास हुए, यह भी ध्यातव्य है। किंतु दुर्भाग्यवश सारत:, नेहरूवाद यहाँ प्रत्येक विजातीय, भारतीय-सभ्यता विरोधी, विस्तारवादी विचाराधाराओं का समेकित रूप है। इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि नहरू जितना ही कम्युनिस्ट विचारों को अपनाते गए, उतना ही भारतीय संस्कृति व चिंतन-धारा से दूर होते गए और प्रत्येक आक्रामक, साम्राज्यवादी विचारधाराओं के पृष्ठ-पोषक बनते गए। नेहरूजी के भाषणों, पुस्तकों में ही नहीं, विभिन्न सहयोगियों, संबंधियों को लिखे निजी पत्रों में भी देखा जा सकता है कि वे सोवियत प्रचारों पर कैसे लट्टू थे, और यहाँ भी समाजवादी पद्धति का समाज बनाने के लिए उन का अधीर अनुकरण करना चाहते थे। यहाँ तक कि उन्हें अपने कांग्रेस पार्टी के समक्ष माओ के रेड-गार्ड अधिक उपयुक्त लगते थे।

धीरे-धीरे पूरे भारत को अपनी गिरफ्त में लेता वह समाजवादी अंधविश्वास किस विराट पैमाने का था, यह परखने के लिए नेहरूजी के तमाम लेखन-भाषण, संसद में हुई नीति-गत बहसों, कांग्रेस व कम्युनिस्ट पार्टियों के तमाम प्रस्तावों, दस्तावेजों, विभिन्न शैक्षिक अकादमिक आयोगों की अनुशंसाओं, प्रगतिशील-जनवादी लेखक संघों तथा कम्युनिस्ट देशों द्वारा प्रायोजित विभिन्न सांस्कृतिक मंचों से जुड़े प्रभावी लेखकों, पत्रकारों, कवियाँ, प्रोफेसरों द्वारा लिखे-छपे बँटे लाखों पन्नों को पढ़ना नहीं तो कम से कम पलटना अवश्य पड़ेगा। जिन से हमारी अर्थ-नीति, विदेश नीति, शिक्षा नीति, और साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ दशकों तक निर्देशित होती रही और आज भी जिनका असर गहरा है। तब जाकर हम देख सकेंगे कि स्वतंत्र भारत में राज्यसत्ता और नीति निर्धारण पर यूरोपीय समाजवाद का कितना जबर्दस्त नियंत्रण रहा है। और इसने हमे वैचारिक रूप से कितना पंगु और पराधीन बनाए रखा है।

यदि उतना सिंहावलोकन न कर सकें तो केवल सोवियत संघ के सभी पहलुओं पर नेहरू जी के तीन दशकों के लेखन-भाषण, अथवा स्तालिन, माओ पर राहुल सांकृत्यायन की लिखी विस्तृत जीवनियाँ; या नागार्जुन, मुक्तिबोध, कैफी आदि कवियों की राजनीतिक कविताओं का ही का पुनरावलोकन कर लें - सभी जगह अंधविश्वासों का खुला प्रदर्शन है। जी नहीं, सोवियत विघटन के बाद उसे अंधविश्वास नहीं कहा जा रहा जिस समय नेहरूजी, राहुलजी या नागार्जुन ने सोवियत संघ या स्तालिन, माओ के बारे में वह सब लिखा-बोला था (जो इक्की-दुक्की अभिव्यक्तियाँ नहीं, बल्कि प्रधानमंत्री तथा उन की समर्थक संगठित, साधन-संपन्न प्रगतिवादी बौद्धिक जमात की देशव्यापी संचार माध्यमों से गुंजरित होती सबसे प्रभावी विचारदृष्टि थी), वह सब ध्यान देकर पढ़ने-परखने से उसी समय अंधविश्वास ग्रस्त दिख सकता था। जब नेहरू स्तालिन को इतिहास के इंजन का ड्राइवर, शांति का महान पुजारी और वह सब कह रहे थे, जो नागार्जुन की कविता में था :

कोटि-कोटि श्रमिकों के त्राता/नयी सृष्टि के नए विधाता/तुम जैसे तुम ही थे साथी/स्टालिन, जनयुग के निर्माता/दिशा दिखाई, दीप दिखाया/महामुक्ति का मंत्र सिखाया/व्यक्ति-व्यक्ति को सजग बनाकर/विधि से नया विधान लिखाया/.... मूक पा गए तुमसे भाषा/पूर्ण हुई सबकी अभिलाषा/.....

'साथी स्टालिन' (1953)

उसी समय दुनिया में असंख्य सामान्य लोग भी स्तालिन को भयंकर तानाशाह और सोवियत राजनीतिक व्यवस्था को अभूतपूर्व विडंबना के रूप में पहचान चुके थे। जब नेहरू लगातार स्तालिन, सोवियत संघ आदि की अतिरेकपूर्ण प्रशंसा करते चले जा रहे थे, उस से पहले से संसार उन की वास्तविकता जान चुका था। ट्राटस्की की 'आई स्टेक माई लाइफ' (1937), आर्थर कोएस्लर की 'डार्कनेस एट नून' (1940), जॉर्ज ऑरवेल की 'एनिमल फार्म' (1945) तथा 'नाइनटीन एट्टी फोर' (1949), विक्टर, कावचेंको की 'आई चूज फ्रीडम' (1946) तथा लुई फिशर, आंद्रे जीद, कोएस्लर इग्नाजिओ सिलोने, स्टीफेन स्पेंडर एवं रिचर्ड राइट द्वारा सम्मिलित रूप से लिखित 'द गॉड दैट फेल्ड' (1949) जैसी विश्व-प्रसिद्ध कृतियाँ, रोमाचंक संस्मरण और विश्लेषण आ चुके थे। सोवियत संघ या लाल चीन से आने वाले अखबार समाचार, तथा समय-समय पर आने वाले दूसरे तथ्य अलग थे। इन सब में ठीक उसी चीज की प्रामाणिक, आलोचनात्मक विवरण था जिस के बारे में नेहरू अपने देशवासियो को शत-प्रतिशत मिथ्या तस्वीर दिखाते रहे थे।

यूरोप ही नहीं, भारत में भी विभिन्न लेखकों, चिंतकों ने कम्युनिस्ट सिद्धांत-व्यवहार पर ऊँगली रखी थी। स्वतंत्रता पूर्व श्री अरविंद, गाँधी, अंबेदकर आदि तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद रामस्वरूप, सीताराम गोयल, अज्ञेय जैसे मनीषियों के लेखन का पुनरावलोकन करें। समाजवादी विचारों, प्रचारों और संबंधित नीतियों पर उन्होंने जो कुछ कहा था वह अक्षरशः सत्य दिखेगा - उस समय भी और आज भी। उदाहरणार्थ, श्री अरविंद ने हिटलर को शैतान का दूत और स्तालिन को स्वयं शैतान बताया था। उन्होंने कहा था कि सोवियत संघ में ''अगर तुम लेनिन या स्टालिन से भिन्न प्रकार से सोचो तो तुम मिटा दिए जाओगे।'' हमारे लिए भी उन्होंने चेतावनी दी थी कि ''अब भारत समाजवाद की ओर बढ़ा रहा है, यह उस के लिए खतरनाक है'' आदि। यह सब उन्होंने 1938-39 में ही कह दिया था। इसलिए यह नहीं कि किसी ने सच्चाई दिखाई न थी।

बात उलटी है कि सच्चाई नग्न रूप प्रकट हो चुकने के बावजूद नेहरू ने स्तालिन-भक्ति और सोवियत प्रचार नहीं छोड़ा। उस स्तालिन की भक्ति, जो एक मात्र राष्ट्राध्यक्ष थे जिसने न तो भारत के स्वतंत्र होने पर शुभकामना संदेश भेजा, न महात्मागाँधी के निधन पर शोक-संदेश। वही स्तालिन जिस ने कहा था, दस लाख व्यक्तियों की मौत महज आँकड़ा होता है कोई ट्रेजेडी नहीं, तथा 'कृतज्ञता कुत्तों की बीमारी है'। जिस ने यह कहा था, कि लोगों के लिए यह जानना बहुत है कि चुनाव हुआ। जो वोट डालते हैं वे कोई फैसला नहीं करते। फैसला वोट गिनने वाले करते हैं। जिस स्तालिन ने अपने देश के एक-एक नागरिक को संभावित अपराधी मानकर सोवियत संघ को विराट यातना शिविर में बदल दिया। इन बातों की पुष्टि 1956-59 के बीच स्वयं परवर्ती सोवियत नेताओं ने भी की। तब भी नेहरू ने अपनी किसी बात को संशोधित नहीं किया। वह अंत तक उन्हीं विचारों के पोषक रहे।

इस प्रकार सच्चाई विपरीत होते हुए भी स्तालिन और कम्युनिज्म के प्रति अंधविश्वास रखना, और प्रचारित करना, कॉलेज के किसी बीस वर्षीय वामपंथी छात्र के लिए क्षम्य हो सकता था। किन्तु नेहरू जैसे यूरोप में पढ़े-लिखे, देश विदेश देखे, राष्ट्रीय स्तर के उम्रदराज नेताओं में, जो बुद्धिजीवी, विद्वान भी माने जाते हों के लिए बिल्कुल अक्षम्य था। इसकी केवल एक व्याख्या हो सकती थी, कि वह स्वयं जिद्दी कम्युनिस्ट थे। इसीलिए किसी गैर-कम्युनिस्ट देश के शासक द्वारा सोवियत व्यवस्था और स्तालिन के बारे में वैसे श्रद्धा-शब्द ढूँढे नहीं मिलते जैसे नेहरू ने बार-बार व्यक्त किए। यह भी लाक्षणिक है कि 1956 में स्वयं सोवियत नेता ख्रुश्चेव द्वारा पिछले चार दशक में स्तालिन के क्रूर कारनामों तथा सोवियत समाजवाद की भयावह सच्चाइयों की स्वीकारोक्ति के बाद भारत में कांग्रेस पार्टी ने 1957 में समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया। तत्कालीन कांग्रेस नेताओं के अनुसार वह नेहरू जी का 'दीने इलाही' एक निजी खब्त था जो उन्होंने कांग्रेस में पास करा लिया। और यही चीज ध्यान देने की है कि जब दुनिया भर में अच्छे-अच्छे कम्युनिस्ट समाजवाद से तौबा कर

रहे थे[14], उस समय नेहरू इसे अपने दल के ऊपर थोप रहे थे। इस संपूर्ण पृष्ठभूमि को बिना समझे हम नेहरूवाद और समकालीन भारत में उस की विनाशक भूमिका का आंकलन नहीं कर सकते।

बात केवल समाजवाद की शाब्दिक स्वीकृति की नहीं थी। यथासंभव व्यवहार में भी उसे लागू किया गया। जिसके वैसे ही परिणाम भी आए[15]। जैसे सोवियत संघ या लाल चीन में स्वतंत्र विचार, आलोचना को छल-बलपूर्वक दबाया जाता था, स्वतंत्र भारत में भी कम्युनिस्ट-विरोधी विचारों को उसी तरह कुचला गया। एक बहुदलीय, निर्वाचित लोकतांत्रिक व्यवस्था में जो सीमाएं थीं, बस वहीं रुकावट थी, अन्यथा मानसिकता और शैली लगभग वही थी। भारतीय चिंतन परंपरा के अमूल्य विचारों, ग्रंथों का अवमूल्यन तथा तिलक, दयानंद, श्री अरविंद, विवेकानंद गाँधी जैसे मनीषियों की अनुशंसाओं की स्वतंत्र भारत में तुरंत लोप स्वतः नहीं हुआ। कम्युनिस्ट देशों वाली शैली में उन्हें छल-बल-लांछन से गुम किया और उन के स्थान पर लेनिन, स्तालिन, माओ, मॉरिस डॉब और नेहरू के तैयार निष्कर्षों को दिन-रात सरकारी तंत्र का प्रयोग करके प्रचारित किया गया। यह नोट करने की बात है कि नेहरूजी के काल में ही सत्ता के दुरूपयोग, सेंसरशिप, प्रलोभन -प्रोत्साहन-हतोत्साहन तथा अवैध-अनैतिक तरीकों से भारत में कम्युनिज्म तथा सोवियत संघ व चीन के बारे में आलोचनात्मक अध्ययन-विमर्श को रोका गया।[16]

यह सच है कि कम्युनिष्ट मिथ्या-प्रचार के विरुद्ध यहाँ वैचारिक जागृति लाने के प्रयत्न को अनुचित तरीके से ध्वस्त किया गया। जो संघर्ष रामस्वरूप की पुस्तिका 'लेट अस फाइट दॅ कम्युनिस्ट मीनेस' (1948), 'रसियन इंपीरियलिज्म हाउ टु स्टॉप इट' (1950) जैसे गंभीर प्रकाशनों - जिसे श्री अरविंद, बर्ट्रेड रसेल, आर्थर कोएस्लर, फिलिपि, स्प्रैट, सरदार पटेल जैसे विश्व-विख्यात विद्वान नेताओं का आशीर्वाद भी मिला था तथा सोसाइटी फोर डिफेंस ऑफ फ्रीडम इन एशिया (1952) की स्थापना के साथ आरंभ हुआ था, उसे यदि आरंभ होते ही दबोच कर नष्ट न किया गया होता तो यहाँ भारतीय चिंतन-धारा को हटा कर समाजवादी-प्रगतिवादी दबदबा कायम नहीं हो सकता था। किन तरीकों से उसे धराशायी किया गया। ध्यान दें, सार्वजनिक पुस्तक प्रदर्शन में स्वयं अधिकारियों द्वारा (पार्टी कार्यकताओं या गुंडों द्वारा नहीं) प्राची प्रकाशन का स्टॉल जबर्दस्ती बंद करवा कर (कलकत्ता, अप्रैल 1954) शुल्क देकर पोस्टल विभाग द्वारा नियमानुसार प्राप्त की गई फ्रैंकिग सुविधा को अवैध तरीके से छीनकर (1953) कम्युनिज्म विरोधी सम्मेलनों में जाने से रोकने के लिए बिना कोई कारण बताए पासपोर्ट न देकर (मई 1955), संवियत या चीन के प्रति आलोचनात्मक वैचारिक सम्मेलनों को विफल बनाने के लिए बड़े लोगों को कह-सुन कर उस में जाने से रोक कर, प्रेस में उन सम्मेलनों की चर्चा को गुम या कम करवा कर, आयोजकों-लेखकों को अधिकारियों द्वारा परेशान करवा कर अखबारों में महत्वपूर्ण पदों पर कम्युनिस्टों, और उन से सहानुभूति रखने वालों को नियुक्त करवा कर, उन के माध्यम से कम्युनिज्म के आलोचकों लेखकों, विद्वानों पर प्रेस में तरह-तरह से लांछन लगवाकर आदि तरीकों से नेहरूजी के समय में इस वैचारिक आंदोलन को खड़े होने से पहले ही गिरा दिया गया था।

जबकि ठीक उसी समय तरह-तरह के कम्युनिस्ट प्रचार साहित्य देश में फैलाए जा रहे थे, सोवियत प्रायोजित चीन प्रोयोजित जलसों, सम्मेलनों में प्रति वर्ष सैकड़ों भारतीय नेता, बुद्धिजीवी मॉस्को और पेकिंग जा रहे थे। गृह मंत्रालय और संसद की जानकारी में विदेशी सोवियत-चीनी धन को यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से राजनीतिक कार्यों में अवैध उपयोग हो रहा था। उसी धन में तथाकथित विश्व-शांति, अफ्रो-एशियन मैत्री, साम्राज्यवाद विरोध, प्रगतिशील लेखक, कलाकार संघों, नई-नई प्रकाशन संस्थाओं, अखबारों आदि विभिन्न नामों-माध्यमों से कम्युनिस्ट प्रचार को निर्बाध रूप रूप से चलने दिया जा रहा था। बल्कि उन्हें प्रोत्साहित किया जा रहा था। विभिन्न कम्युनिस्ट देशों में अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा संस्कृति और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चमत्कारी सफलता के मिथ्या प्रचारों को यहाँ जनता तक दूर-दूर पहुँचाना चल रहा था। दूसरी ओर नकल में यहाँ भी योजनाएँ, विभिन्न आयोग अकादमियाँ, संस्थान समितियाँ आदि बन रही थीं जिन का दर्शन ही नहीं काम-काज के तरीके तक सोवियत कम्युनिज्म से प्रभावित थे। (आज भी उन में से कई संस्थाएं सफेद हाथी का क्षुद्र प्रचार संस्थान बनी देश के लिए बोझ बनी हुई है।)

किन्तु उन की आलोचनाओं को बल-छल पूर्वक रोका जाता था। बल और दबाव के जो उदाहरण ऊपर

दिए गए हैं वह लगभग वही तरीके थे जिस तरह कम्युनिस्ट देशों में क्रांतिविरोधी या प्रतिक्रियावादी विचारों को ध्वस्त किया जताा रहा है। भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था की सीमाओं के कारण इस में जो मर्यादा रही, वह दूसरी बात है। नेहरूजी लेखक, बुद्धिजीवी भी थे। किंतु समाजवाद का बचाव वह भी जोर-जबर्दस्ती, संसाधन-युक्त प्रचार और छल-प्रपंच के सहारे ही कर सके थे। कम्युनिस्ट वैचारिकता कभी खुला वैचारिक वाद-विवाद जीत नहीं सकती यह याद रखना चाहिए इसीलिए सोसाइटी फॉर डिफेंस ऑफ फ्रीडम इन एशिया को नेहरू और उन के अनुयायियों ने छल-बल से कुचला था।

कुछ लोग आज उन सब चीजों को 'बीती बातें' कह कर कतराना चाहेंगे, किन्तु उन बातों का शिक्षात्मक व सामयिक महत्व है। एक तो इस में कि स्वतंत्र भारत की संपूर्ण राजनीतिक-आर्थिक-शैक्षिक परंपरा उन्हीं विचारों पर आधारित है, जिसे नेहरूवाद कहा जाता रहा है। चाहे प्रशंसा या निंदा में, नेहरूवाद की एक विचार-पद्धति के रूप में मान्यता है। व्यवहारत: आज भी भारतीय राजनीति में सब से प्रभावी विचारधारा है। इसलिए भारतीय सांस्कृतिक-परंपरा से इसके छत्तीस के आंकड़ों को समझना आवश्यक है। इसलिए और भी क्योंकि आज भी देश-विदेश की अनेक समस्याओं पर हमारे अनेक बुद्धिजीवी, नेता आदि उसी तरह अंधविश्वास में डूबे लिखते-बोलते रहते हैं। समय के साथ नारे, मुहावरे बदलते जरूर गए, किंतु भारतीय परंपरा के प्रति उन का विलगाव, दुराव तथा पश्चिमी नारों के प्रति उन का आग्रह यथावत है। उस का प्रभाव राजकीय नीतियों, निर्णयों में भी झलकता है। क्या हम इस पराधीन, हीनताग्रस्त, अंध-विश्वासी आदत को छोड़ सकते हैं, यदि विचार-विमर्श में कोई विवेकशील, खुली पद्धति का प्रयोग न आरंभ करें। यदि पुन: सचेतन न हो?

इसीलिए यह बात स्मरण करने की सोवियत संघ, चीन की नीतियों, उन के परिणाम, या लेनिन, स्तलिन, माओ के जीवन-वृत्त - अर्थात वह सब जिसने भारतीय नीति-निर्माण के गहरे प्रभावित किया था- किसी विषय में नेहरू जी या राहुल जी के विवरणों की एक भी प्रस्थापना वास्तविक इतिहास से मेल नहीं खाती। जब कि उन्हीं विवरणों से ही प्रमाणिक वास्तविक इतिहास सामने आ जाने के बाद भी यहाँ इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र संबंधी पुस्तकों और मीडिया व बौद्धिक संगठनों द्वारा अभी भी खुले-छिपे, जाने-अनजाने उन्हीं अंधविश्वासों का पोषण हो रहा है। अत: उस से होने वाले हानियाँ बदस्तूर जारी है।

इसलिए वह 'बीती बातें' नहीं, समकालीन विडंबना हैं न केवल आज भी वैचारिकता, नीति-निर्माण आदि पर नेहरूवाद का गहरा प्रभाव है। बल्कि आज भी हमारी नई पीढ़ी को अनेक झूठ परोसे जाते हैं। उदाहरणार्थ, अब स्वयं रूस में नवंबर 1917 की घटना को कम्युनिस्टों द्वारा किया गया तख्ता-पलट कहा जाता हे, किंतु हमारे अनेक इतिहासलेखक अभी भी उसे 'समाजवादी क्रांति' यह महिमामंडित करते हुए झूठे विवरण लिखते हैं। इतिहास के कूड़ेदान में जा चुका समाजवाद अभी भी पाठ्यक्रमों की शोभा बढ़ा रहा है, किंतु भारत और पूरी दुनिया को लंबे समय से साँसत में डाले हुए आतंकवाद का कोई अध्ययन-अध्यापन नहीं होता। आतंकी प्रशिक्षण देने वाले मदरसे पाकिस्तान में आधिकारिक चर्चा, नीति-निर्णय के विषय बन सकते हैं। किंतु भारत में यह संपूर्ण विषय वर्जित है। भारत राजनीति शास्त्र का छात्र आतंकवाद पर कुछ नहीं जान सकता, यह उस के पाठ्यक्रम में ही नहीं है। लेकिन उसे रूस, चीन, क्यूबा, हो ची मिन्ह, फिडेल कास्त्रों तथा समाजवाद के प्रकारों के बारे में तरह-तरह की झूठी-सच्ची बातें अभी भी पढ़ने को विवश किया जाता है। क्यों? क्या? यह शिक्षा के नाम पर किसी राजनीतिक गुट के एजेंडे को बढ़ावा देकर नई पीढ़ी को हानि पहुँचाना नहीं है? अनेकानेक विषयों, अवधारणाओं, नारों आदि में समयानुकूल परिवर्तन करके अभी भी सच्ची शिक्षा या जानकारी भी देने के स्थान पर क्षुद्र राजनीतिक प्रचार की जिद चल रही है। इसे हम कब समझेंगे।

वस्तुत: 1947 के बाद तो हमारी शिक्षा, शोध, चिंतन, नीति-निर्माण आदि में भारतीय चिंतन परंपरा और स्वाधीनता आंदोलन के मूल्यों की मात्र उपेक्षा की गई थी। किंतु समय के साथ उपेक्षा से आगे बढ़कर अब उन मूल्यों के विरुद्ध दोषारोपण, दुष्प्रचार आरंभ हो गया है। उदाहरण के लिए जो भगवा रंग भारतीय अस्मिता का प्रतीक है, जो भारत के राष्ट्र-ध्वज में भी उसी कारण सादर रखा गया था, वही आज 'भगवाकरण' कह कर लांछन का शब्द बन गया। यह यकायक नहीं हुआ। इस का एक बड़ा उदाहरण है स्वयं संविधान की मनमानी तोड़-मरोड़ ताकि उसे भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से दूर करके विदेशी, साम्राज्यवादी रणनीतियों के और अनुकूल

बनाया जा सके।

संदर्भ-टिप्पणियाँ

1. 'इस के एक मौलिक विश्लेषण के लिए देखें, राम स्वरूप, कल्चरल सेल्फ-एलीनिएशन एंड सम प्रोब्लम्स हिंदुइज्म फेसेस, नई दिल्लीः वॉयस ऑफ इंडिया, 1987 **2.** धर्मपाल द्वारा उद्धृत, ''स्वाधीनता से वंचित होने की चिंता'', धार्मपाल, भारत का स्वधर्म, (सहयोग- रामेश्वर मिश्र पंकज), बीकानेर : वाग्देवी प्रकाशन, 1994, पृ0 13 टिप्पणी नेहरू की है, यह धर्मपाल ने अन्यत्र लिखा है। **3.** बंकिमचंद्र और वंदे-मातरम् की ऐतिहासिक भूमिका के लिए देखें, श्री अरविंद, ''ऋषि बंकिमचंद्र'', बंकिम तिलक दयानन्द, पांडिचेरीः श्री अरविंद सोसायटी, 1994. **4.** उदाहरण के लिए देखें, भारत माता की जय, बैन्नड इन जे एंड के डिस्ट्रिक्ट'', द पायोनियर, अंग्रेजी दैनिक, नई दिल्ली, 20 जुलाई 2006.

5. एम. के. गाँधी, रस्किन, आन टू द लास्टः ए पाराफ्रेज, अहमदाबादः नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1994, पृ0 40, **6.** गाँधी जी, हिन्द स्वराज, अहमदाबारः नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 1989, पृ0 75, **7.** स्वामी विवेकानंद, शिक्षा, नागपुर : रामकृष्ण मठ, 1985, पृ0 41-47, **8.** श्री अरविंद, ''उत्तरपाड़ा भाषण'' (1909), कारावास की कहानी, पांडिचेरीः श्री अरविंद सोसायटी, 1997, पृ0 19, **9.** परखने के लिए देखें, वी. शिवा राव व अन्य, द फ्रेमिंग ऑफ इंडियाज कांस्टीच्यूशन, वॉल्यूम 1, नई दिल्लीः द इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, 1996, इस में सन् 1989 से 1947 तक भारत के संवैधानिक, राजनीतिक नवनिर्माण को लेकर हुई चर्चाओं, दस्तावेजों का विस्तृत विवरण है। उनमें कहीं सोशलिज्म का नाम-निशान नहीं मिलता। **10.** मैक्स वेबर, ''पॉलिटिक्स ऐज ए वोकेशन'', फ्रॉम मैक्स वेबरः एसेज इन सोशियोलॉजी, सं. एच. एच. गर्थ. सी. राइट मिल्स, लंदनः रूटलेज एंड केगन पॉल लि., 1952, पृ0 122-231 **11.** उदाहरण के लिए, के. नटवर सिंह, ''चेंजिंग डायमैंशंस ऑफ नेहरूइज्म'', नेहरू सेंटर, थिरूअनंतपुरम में 11 जुलाई 2004 के दिया गया व्याख्यान। ली क्वान यू द्वारा 21 नवंबर 2005 को दिल्ली में दिया गया 37वाँ जवाहरलाल नेहरू स्मृति व्याख्यान भी देखें, ''नेहरूइज्म एंड इंडियाज इकॉनोमिक डेवेलपमेंट''। **12.** एक वस्तृत मूल्यांकन के लिए देखें, सीताराम गोयल, जेनेसिस एंड ग्रोथ ऑफ नेहरूइज्म, खंड 1, कमिटमेंट टु कम्युनिज्म, नई दिल्लीः वॉयस ऑफ इंडिया, 1993. **13.** श्री अरविंद, 6 अप्रैल 1939 तथा 14 दिसंबर 1938, सांध्य वार्ताएं, पांडिचेरीः श्री अरविन्द सोसायटी, 1992, पृ0 98, 30 **14.** खुश्चेव रिपोर्ट के बाद दुनिया भर कम्युनिस्टों के बीच कितनी गहरी उथल-पुथल मची, कितना आत्मालोडन, मंथन हुआ, इसकी एक गंभीर, प्रमाणिक प्रस्तुति के लिए देखें, हावर्ड फास्ट, द नेकेड गॉडः द राटर एंड द कम्युनिस्ट पार्टी, न्यूयॉर्कः फ्रेडरिक ए, प्रेजर, 1957। भारत में भी कम्युस्टि कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों के बीच भारी मोहभंग हुआ था। देखें, राज थापर, ऑल दीज इयर्स, नई दिल्लीः सेमिनार पब्लिकेशंस, 1991, पृ0 140-41. **15.** घोर व्यक्ति-पूजा, हर तरह के संस्थान भवन, पथ उद्यान, विश्वविद्यालय, अकादमी, कॉलोनी, योजनाओं आदि के नाम नेहरू, इंदिरा, आदि के जोड़ कर रखते जाना भी विशुद्ध समाजवादी अनुकरण है। किसी 'बुर्जुआ' देश में ऐसा नहीं देखा जा सकता, चाहे कोई नेता कितना भी महान या लोकप्रिय क्यों न रहा हो। उसी तरह 1970 के दशक में कांग्रेस-कम्युस्टि नेताओं द्वारा देश में 'कमिटेड' न्यायालय, 'कमिटेड' नौकरशाही-प्रेस-संसद-पुलिस-लेखक आदि सभी क्षेत्र में 'कमिटेड' लोगों की माँग भी सोवियत-चीनी प्रणाली से उपजी हुई ख्वाहिश ही थी। फिर, ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार भी समाजवादी अर्थ-प्रणाली, मनोवृत्ति का ही परिणाम था, जिसमें इसे बड़ी बात नहीं माना जाता था। यह कह कर कि 'यह तो सब जगह है। प्रसिद्ध ब्रिटिश कम्युनिस्ट फिलिप स्प्रैंट ने 1963 में ही लिखा था, ''भ्रष्टाचार के प्रति नेहरू की सहनशीलता मार्क्सवाद के प्रति उनकी सहानुभूतिपूर्ण भावना से जुड़ी हुई है।'' **16.** विस्तृत विवरण के लिए देखें, सीताराम गोयल, जेनेसिस एंड ग्रोथ आफ नेहरूइज्म, खंड 1, नई दिल्लीः वॉयस ऑफ इंडिया, 1993, पृ0 vii-vii, 11-28 **17.** समाजवादी 'मॉडल' के प्रभाव में भारतीय अर्थतंत्र को ढालने से हुई अकूत हानि के एक आंकलन के लिए देखें, राजीव श्री निवासन, ''द नेहरूवियन पेनाल्टीः फिफ्टी वेस्टेड इयर्स'' रिडिफ डॉट कॉम, 14 जनवरी 2004 **18.** राज थापर, ओल दीज इयर्स, नई दिल्लीः सेमिनार पब्लिकेशंस, 1991, पृ 289, 298-99 **19.** बुलबुल राय मिश्रा द्वारा उद्दृत, ''ह्वेन कंट्री वाज अप फॉर सेल'', द पायोनियर, नई दिल्ली, 4 अक्टूबर 2005 **20.** 'सोशलिज्म' को तो सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ मुकदमों का फैसला देते हुए जैसे-तैसे समझने, समझाने का प्रयास भी किया जो नितांत अपर्याप्त है, किंतु 'सेक्युलरिज्म' के बारे में तो वहाँ से भी कोई व्यवस्था नहीं मिली है। देखें, दुर्गादास बसु, शॉर्टर कांस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, दसवाँ संस्करण, नई दिल्ली प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, 1989 पृ 2 **21.** वही, पृ 279 **22.** एक शैक्षिक संगठन, 'सोसायटी फॉर इंटीग्रेटेड डेवलपमेंट ऑफ हिमालयाज्' द्वारा 3-5 अगस्त 1998 को आयोजित एक शिक्षा-कार्यशाला की रिपोर्ट, बोधिग्रामः संजीवनी, सम्मति, संवाद, सिद्धः मसूरी, 1999 पृ 70 **23.** लेव टॉल्सटॉय, ''मॉडर्न साइंस'' (1898), रिकलेक्शंस एंड एसेज, लंदनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1961ण प 176-77 **24.** श्री अरविंद, भवानी-भारती (1905) पांडिचेरीः श्री अरविन्द सोसायटी, 1992 पृ 3 **25.** अज्ञेय, ''विज्ञान और हम'' (1971), कवि निकष, नई दिल्लीः

प्रभात प्रकाशन, 2002, पृ 80